



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 8.4
 IJAR 2019; 5(1): 503-505
www.allresearchjournal.com
 Received: 19-11-2018
 Accepted: 25-12-2018

अखिलेन्द्र कुमार रंजन
 शोधार्थी, विश्वविद्यालय
 इतिहास-विभाग, जय प्रकाश
 विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार, भारत

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में पूँजीपति वर्ग की आशंका

अखिलेन्द्र कुमार रंजन

सारांश

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के लिए कौन-सा रास्ता अपनाया जाए, इस सवाल पर पूँजीपतियों की राय अलग-अलग थी। इसके पहले व्यापारी समूह संविधानवाद के और दबाव समूह की राजनीति के पक्ष में थे और यही कारण है कि 1920-21 के असहयोग आंदोलन से उन्होंने दूरी बनाए रखी थी। लेकिन कांग्रेस जब संविधानवाद की आरे पलटी, तो भारतीय उद्योगों के प्रतिनिधि भी स्वराज्यवादियों के और निकट आए और विधायिका में विभिन्न राष्ट्रीय आर्थिक प्रश्नों पर उनसे सहयोग करने लगे, जैसे सरकार की खरीद-नीति में संशोधन, कपास पर आबकारी की समाप्ति, जापानी प्रतियोगिता से निपटने के लिए सूती मालों पर आयात-शुल्क में वृद्धि, साम्राज्यिक प्राथमिकता और मुद्रा-नीति के विरोध जैसे सवालों पर। व्यापारियों ने गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों और स्वराज्यवादियों के अभियान कोषों में भी जमकर दान दिए। फिर भी, गांधीवादी कांग्रेस के नेतृत्व में आंदोलनों की राजनीति से अपनी किस्मत जोड़ने के बारे में कई पूँजीपति सशंकित थे।

प्रस्तावना

1929 की मंदी ने भारतीय व्यापारियों की हालत खराब कर रखी थी और सविनय अवज्ञा आंदोलन में भागीदारी के पक्ष में उसने एक तरह की 'जनमत की लहर' पैदा कर दी थी, फिर भी, यह बहाव किसी भी तरह सीधा-सादा या जटिलताओं से मुक्त नहीं था। कई पूँजीपति आंदोलनों की राजनीति अभी भी भारी जोखिम का काम मानते थे, नागरिक असंतोष और बोल्शेविकवाद के लिए एक उपजाऊ जमीन समझते थे; जबकि कुछ दूसरे लागे समझते थे कि एक संवदे नहीं सरकार से रियायतें लेने का यह अंतिम अवसर है। पूँजीपति तब बहुत खुश हुए जब नवंबर 1929 में लॉर्ड इरविन ने एक गाले मजे सम्मलेन के प्रस्ताव की घोषणा की, जिससे भारत की समस्याओं का एक संवैधानिक समाधान निकलने की आशा थी। लेकिन उनकी यह आशा शीघ्र ही कांग्रेस की हठधर्मिता के कारण चकनाचूर हो गई। जब दिसंबर 1929 में कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव पारित किया, तो व्यापारी समूहों के कान खड़े हो गए। प्रस्ताव में एक प्रावधान कर्जों के रद्द किए जाने के बारे में था और यह प्रावधान व्यापारिक समूहों को कतई पसंद नहीं था। 1928 आरे 1929 में गिरनी कामगार यूनियन जैसी ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व में, जो कम्युनिस्ट प्रभाव में अधिकाधिक आती जा रही थी, अनेक हड़तालें हुईं। फिर भी, भारतीय पूँजीपति साम्यवाद के डर से और मजदूरों में जारी असंतोष के खतरों के कारण साम्राज्यवाद के शरणागत नहीं हुए और कांग्रेस के साथ बने रहे। घनश्यामदास बिड़ला का स्पष्ट कहना था, "भारतीय पूँजीपति की मुक्ति प्रतिक्रियावादी ताकतों से हाथ मिलाने में नहीं है। पूँजीपति वर्ग का भला इसी में है कि वह संवैधानिक तरीके से आजादी के लिए संघर्ष करने वालों (दकियानूस राष्ट्रवादी खेमे) का हाथ मजबूत करे।" इसी प्रकार 1928 में जब सरकार ने कम्युनिस्टों के दमन के लिए सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक (पब्लिक सेफ्टी बिल) तैयार किया था तो पूँजीपतियों ने उसका विरोध किया था। पूँजीपति वर्ग का कहना था कि इस कानून के माध्यम से सरकार राष्ट्रीय आंदोलन का दमन करेगी।

इस प्रकार 1930 के आरंभ तक विभिन्न कारणों से, भारतीय व्यापार-जगत के प्रायः सभी हिस्से कांग्रेस के साथ आ चुके थे। उधर कांग्रेस भी उनकी स्थिति और हितों के प्रति संवेदनशील थी। यही कारण है कि गांधी ने जब लॉर्ड इरविन के नाम ग्यारह सूत्रीय चते त्वनी की घोषणा की, तो उसमें खास पूँजीपतियों की तीन माँगे थीं, जैसे- 1 शिलिंग 4 पेंस की रुपया-स्टर्लिंग विनिमय दर का अनुमोदन, सूती उद्योगों के लिए संरक्षण और भारतीय कंपनियों के लिए तटीय जहाजरानी का आरक्षण, लेकिन जब सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ, तो व्यापार जगत की प्रतिक्रिया एकबार फिर मिली-जुली रही। व्यापारी और सौदागर अधिक उत्साही रहे; उन्होंने धन दिए और बहिष्कार आंदोलन में भाग लिए। दूसरी ओर, मिल-मालिक परेशान रहे और उनका ठोस समर्थन भी कम ही मिला, जबकि बंबई के टाटा जैसे उद्योग पति, जो सरकारी आदेशों पर निर्भर थे, शंकाग्रस्त रहे। चूंकि पूर्ण तटस्थता आत्मघाती हो सकती थी, इसलिए फिक्की ने आंदोलन के सिद्धांतों का समर्थन

Corresponding Author:
अखिलेन्द्र कुमार रंजन
 शोधार्थी, विश्वविद्यालय
 इतिहास-विभाग, जय प्रकाश
 विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार, भारत

किया आरै पुलिस—ज्यादतियों की निंदा की। सविनय अवज्ञा के प्रति मिल—मालिकों में जो भी उत्साह—भाव था, वह सितंबर 1930 तक स्पष्ट तौर पर समाप्त हो चुका था। दरअसल पूँजीपति वर्ग सत्ता के खिलाफ लंबे समय तक आक्रामक आंदोलन को समर्थन देने में हिचकिचाता था, क्योंकि इससे उसकी रोजमर्रा की व्यापारिक गतिविधियाँ प्रभावित होती थीं और उसे लगता था कि आंदोलन का यह रूप उसके खुद के वर्गीय अस्तित्व के लिए खतरा है। लालाजी नारायणजी ने मार्च 1930 में ही पुरुषोत्तमदास को सजग किया था कि, “इससे निजी संपत्ति को ही खतरा पैदा हो जाएगा और इस आंदोलन से व्यवस्था के प्रति असम्मान का जो भाव पैदा होगा, उसके नतीजे बहुत बुरे होंगे।” वास्तव में बढ़ते नागरिक असंतोष के कारण बड़े व्यापारियों के मन में सामाजिक क्रांति का आतंक पैदा हो गया था। अब वे लागे स्पष्ट तौर पर संविधानवाद की आरंभ लाट्टे ना चाहते थे। यद्यपि गांधीजी ने अनेक दूसरे कारणों से इरविन के साथ समझौते पर हस्ताक्षर किए, किंतु कुछ इतिहासकारों का दावा है कि उद्योगपतियों का दबाव निश्चित ही इन कारणों में से एक था, और वह भी एक महत्वपूर्ण कारण था। फरवरी 1931 में, यानी मार्च में गांधी—इरविन समझौते पर हस्ताक्षर होने से ठीक पहले, भारत सरकार ने तैयार सूती कपड़ों पर 5 प्रतिशत शुल्क बढ़ाकर सूती मिल—मालिकों को एक बड़ी रियायत दी और वह भी इस बार लंकाशायर को प्राथमिकता दिए बिना। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि व्यापार जगत के नेता बिक गए। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में, जहाँ कांग्रेस का प्रतिनिधित्व गांधी और फिक्की का प्रतिनिधित्व बिड़ला और ठाकुरदास कर रहे थे, आर्थिक विषयों पर सभी वार्ताओं के दौरान फिक्की ने पक्के तौर पर गांधी के विचारों का पालन किया। लेकिन लंदन में संवैधानिक वार्ताओं के विफल होने के बाद भी वह (फिक्की) आंदोलनों की आरंभ वापस नहीं लौटना चाहती थी। यही कारण था कि कांग्रेस ने जब जनवरी 1932 में दूसरे सविनय अवज्ञा आंदोलन का आरंभ किया, तो उसे उद्योग जगत का समर्थन स्पष्ट रूप से नहीं मिल सका। इस बार राजनीतिक दबाव के कारण सारे बड़े व्यापारी तीन गुटों में बँट गए: अहमदाबाद के मिल—मालिकों ने इस आंदोलन का समर्थन किया, जबकि बंबई के मिल—मालिक, कलकत्ता और दक्षिण भारत की कुछ लॉबियों के साथ इसका विरोध कर रहे थे; बिड़ला और ठाकुरदास की तरह फिक्की के कुछ प्रमुख नेता लगातार दुलमुल बने रहे। सरकार ने 1932 में ओटावा में एक साम्राज्यिक आर्थिक सम्मेलन की घोषणा की। इसका उद्देश्य साम्राज्य में विभिन्न उद्योगों के बीच और उनके अंदर उत्पादन में एक नए विशेषीकरण की व्यवस्था करके साम्राज्यिक आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना था। आरंभ में फिक्की के नेता इस प्रश्न पर सरकार से सहयोग करने के लिए बड़े उत्साहित थे, लेकिन जब वायसरॉय विलिंगडन ने भारत से फिक्की नेताओं के बजाय अपने वफादार और दूसरे दर्जे के औद्योगिक नेताओं को भेज दिया, तो मामला बिगड़ गया। यद्यपि अगस्त 1932 के ओटावा समझौते ने भारतीय उद्योग को कुछ वास्तविक लाभ देने का वादा किया, लेकिन फिक्की और राष्ट्रवादियों ने शत्रुतापूर्ण प्रतिक्रिया के साथ उसका स्वागत किया। वास्तव में 1930 के दशक में भारत के बड़े व्यापारियों की राजनीतिक सोच साम्राज्य की इच्छा और राष्ट्रवाद के सवाल पर स्पष्ट रूप से बँटी हुई थी। बंबई के बड़े व्यापारी ब्रिटिश पूँजी के प्रति कुछ ज्यादा ही समझौते का रवैया अपनाने लगे थे और वे गैर—ब्रिटिश मालों के मुकाबले के लिए ब्रिटिश कंपनियों से सहयोग को प्राथमिकता देते थे। श्रम नीति के प्रश्न पर टाटा और मोदी जैसे नेता तो विदेशी पूँजी से भी सहयोग करने को तैयार थे और उन्होंने 1933 में ‘इंज्लॉयर्स फेडरेशन ऑफ इंडिया’ का गठन भी कर लिया था। लेकिन यह प्रयोग बहुत आगे नहीं

बढ़ सका, क्योंकि भारत में रह रहे अंग्रेज व्यापारी अपने भारतीय समकक्षों से सहयोग करने के प्रति कम उत्साहित थे। मोदीजी के नेतृत्व में बंबई के सूती मिल—मालिकों ने अहमदाबाद के मिल—मालिकों के विरोध के बावजूद अक्टूबर 1933 में ‘लीस—मोदी’ समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते की राष्ट्रवादियों ने और बंबई के बड़े घरानों को छोड़कर सभी व्यापारी संगठनों ने निंदा की। इससे व्यापारी समुदाय में दरार और बढ़ने के साथ यह बात भी स्पष्ट हो गई कि इन व्यापारी समूहों के पास किसी सरकारी नीति को बदलवाने की शक्ति भी शायद नहीं थी। यह बात तब और स्पष्ट हो गई जब रिजर्व बैंक विधेयक पारित हुआ और व्यापार जगत के प्रतिरोध के बावजूद 1934 में चीनी पर आबकारी लगा दी गई। इन्हीं कारणों से पूँजीपतियों का एक वर्ग कांग्रेस के टकराववादी रवैये और उसकी आंदोलनों की राजनीति के बावजूद, उसके साथ संबंध बनाए रखने को विवश था। गांधीजी ने अप्रैल 1934 में जब सविनय अवज्ञा आंदोलन को औपचारिक रूप से स्थगित किया, तो भारतीय व्यापार जगत ने इस निर्णय का स्वागत किया। भारतीय राजनीति में संविधानवाद की वापसी उसके लिए राहत का कारण थी।

सरकार ने वफादारी के पुरस्कार के रूप में टिस्को (टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी) के हित में असेंबली में ‘इस्पात संरक्षण विधेयक’ (स्टील प्रोटेक्शन बिल) पारित किया और हिंद—जापान समझौते के द्वारा बंबई के कपड़ा उद्योग को लाभ पहुँचाया। इस समझौते में भारत में जापानी मालों की बिक्री के लिए कोटे की व्यवस्था थी। लेकिन जिन लोगों ने कांग्रेस का साथ दिया था, वे जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस और जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में समाजवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण बौखलाए हुए थे। लेकिन इस बार भी लाल खोफ के कारण पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद का हाथ नहीं थामा। समाजवाद पर अंकुश लगाने के लिए पूँजीपति वर्ग ने एक बहुमुखी रणनीति अपनाई आरंभ तय किया कि कांग्रेस के दक्षिणपंथियों— ‘वल्लभभाई, राजाजी आरंभ राजेंद्र बाबू’ को संरक्षण दिया जाए, जो बिड़ला के शब्दों में, ‘साम्यवाद और समाजवाद से लड़ रहे थे और गांधी के पीछे पूरी शक्ति लगा दी जाए। गांधीवादी भी कांग्रेस पर फिर से नियंत्रण प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों का समर्थन और उनसे वित्तीय सहायता पाने के लिए बेचैन थे।

इस चरण में पूँजीपतियों का मुख्य स्वार्थ यह था कि कांग्रेस को संवैधानिक राजनीति के दायरे में रखा जाए और उसके समाजवादी पंख कतर दिए जाएं। इसके लिए वे कांग्रेस की अंदरूनी राजनीति में दखल देने तक के लिए तैयार थे। 1936 के ‘बंबई घोषणापत्र’ ने, जिस पर बंबई के इक्कीस पूँजीपतियों के हस्ताक्षर थे, नेहरू के समाजवादी आदर्शों के प्रचार की खुली भर्त्सना की और इस प्रचार को निजी संपत्ति तथा देश की शांति और समृद्धि के लिए घातक करार दिया। यद्यपि उसे व्यापार जगत से कोई खास समर्थन नहीं मिला, लेकिन उसने कांग्रेस के अंदर भूलाभाई देसाई और गोविंदवल्लभ पंत जैसे नरमपंथियों को अवश्य मजबूत किया, जिन्होंने नेहरू पर दबाव डाला कि वे अपने समाजवादी उद्गारों को थोड़ा नरम बनाएं।

1937 के चुनावों में भाग लेने और उसके बाद पद स्वीकार करने के कांग्रेस के निर्णय ने पूँजीपतियों को उसके और करीब खींचा। बराबर बिगड़ती आर्थिक दशाओं के संदर्भ में मोदी जैसे शंकालु भी राष्ट्रवादियों के और निकट आ गए। संभवतः व्यापारिक पूँजी एक बार फिर 1937 के चुनावों में कांग्रेस की शानदार जीत का एक प्रमुख कारण रही, किंतु पार्टी पूँजीपतियों के वर्चस्व से अभी भी बहुत दूर थी। वास्तव में जब कांग्रेस ने आठ प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाए, तो श्रम (मजदूर) और पूँजी (व्यापारी) दोनों ने खुशियाँ मनाई, इसलिए पार्टी को इन दोनों के परस्पर—विरोधी हितों के बीच बराबर संतुलन बनाए रखना पड़ा। जब कांग्रेसी शासन वाले प्रांतों, खासकर मद्रास और संयुक्त प्रांत में ट्रेड

यूनियन गतिविधियों और श्रमिक असंतोषों में वृद्धि हुई, तो कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने अपने चुनावी वादे मुताबिक श्रमिक-कल्याण कार्यक्रम लागू करने के लिए अनेक प्रस्ताव पारित किए। इससे पूँजीपति निश्चित रूप से असंतुष्ट हुए, किंतु जब प्रांतीय सरकारों ने अपनी वित्तीय जरूरतों को पूरा करने के लिए संपत्ति-कर और विक्रय-कर जैसे करों को बढ़ा दिया, तो व्यापारिक घराने एक साथ हो गए और कांग्रेस हाईकमान चिंतित हो उठा। फलतः कांग्रेस ने अपनी श्रम-नीति में परिवर्तन कर पूँजीवादी हितों को तुष्ट करने का प्रयास किया, जिसकी चरम अभिव्यक्ति नवंबर 1938 में बंबई के व्यापारिक विवाद कानून (बॉम्बे ट्रेड्स डिस्प्यूट्स ऐक्ट) के रूप में हुई। इसका उद्देश्य हड़ताल और तालाबंदी, दोनों पर राके लगाना था। कांग्रेस की इस नई श्रम-विरोधी नीति से पूँजीपतियों का डर दूर हो गया और जवाहरलाल नेहरू की समाजवादी आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में उद्योग जगत के कुछ नेताओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया। यही नहीं, जब 1938 में सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में कांग्रेस ने अपनी पहली राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया, तो उसमें ए.डी. श्रॉफ और अंबालाल साराभाई के साथ पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और बालचंद्र हीराचंद भी शामिल हुए, जिन्होंने 1936 के उस 'बंबई घोषणापत्र' पर हस्ताक्षर किए थे, जिसमें नेहरू के समाजवादी आदर्शों की निंदा की गई थी। इसके बावजूद पूँजीपतियों के संबंध में कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है क्योंकि संयुक्त प्रांत और मद्रास के कुछ उद्योगपति अभी भी कांग्रेस के प्रति शंकाग्रस्त थे, जबकि मुस्लिम उद्योगपति कुल मिलाकर उससे विमुख ही रहे।

वास्तव में भारतीय पूँजीपतियों ने कांग्रेस के साथ एक रणनीतिक संबंध बनाए रखा। वे राष्ट्रवाद के विरोधी नहीं थे, लेकिन वे संविधानवाद को पसंद करते थे तथा विद्रोहों और क्रांतियों से डरते थे। 'भारत छोड़ो' आंदोलन के आरंभ से ठीक चार दिन पहले 5 अगस्त 1942 को बंबई के ठाकुरदास, जे.आर.डी. टाटा और बिड़ला ने वायसरॉय को पत्र लिखा कि वर्तमान संकट से उबरने और एक नए सविनय अवज्ञा आंदोलन से बचने का एक मात्र तरीका यही है कि भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाए। लेकिन जब स्वतंत्रता की माँग के साथ 'भारत छोड़ो' आंदोलन सचमुच शुरू हो गया, तो उसे समर्थन देने में वे काफी झिझकते रहे और उन्होंने वायसरॉय को उसका विरोध करने का आश्वासन दिया। तूफान के गुजरने के बाद वे फिर कांग्रेस की ओर झुक गए और फिर जब सत्ता के हस्तांतरण की बातचीत शुरू हुई, तो सहयोग के लिए और भी तत्पर दिखाई देने लगे।

'भारत छोड़ो' आंदोलन के बाद कांग्रेस एक रूढ़िवादी नेतृत्व के अधीन आ गई, जो पूँजीपतियों से सहयोग करना और पूरी तरह संविधानवाद के दायरे में ही रहना चाहता था। समय के साथ भारतीय पूँजीपतियों ने भी यह अनुभव किया कि यदि बड़े पैमाने पर सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल को राके ना है, तो निरंतर सुधार कार्यक्रमों को लागू करना होगा। इन्हीं सुधार-कार्यक्रमों को लागू करने के उद्देश्य से पूँजीपतियों ने 1942 में 'आर्थिक विकास समिति' का गठन किया। भारतीय व्यापार जगत की इस समिति ने 1944 में प्रसिद्ध 'बंबई योजना' तैयार किया, जिसका उद्देश्य समाजवादी आंदोलन की उन माँगों को स्वीकार करना था, जो पूँजीवाद के अस्तित्व के लिए खतरा नहीं थीं।

निष्कर्ष

भारतीय पूँजीपति वर्ग समाजवाद-विरोधी और बुर्जुआ तो था, पर वह साम्राज्यवाद का समर्थक नहीं था। पूँजीपतियों द्वारा संवैधानिक गतिविधियों, जैसे विधानसभा या वायसरॉय की कार्यकारिणी परिषद में हिस्सेदारी का मतलब यह नहीं था कि भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का पिट्टू हो गया था या उसके सामने आत्मसमर्पण कर चुका था। पूँजीपति वर्ग के लिए

ये सब तरीके साम्राज्यवादी सत्ता के प्रति विरोध जताने के लिए महज साधन थे। जहाँ तक राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारतीय पूँजीपतियों और कांग्रेस के आपसी संबंधों का सवाल है, भारतीय पूँजीपतियों और कांग्रेस का आपसी संबंध रणनीतिक, मुद्दों पर आधारित, बल्कि व्यवहारमुखी भी रहा। राष्ट्रवाद से पूँजीपतियों की प्रतिबद्धता निश्चित ही व्यापारिक हितों से ऊपर न थी, और कांग्रेस को समर्थन तो पूरी तरह सशर्त था, किंतु वे लोग न तो अंग्रेजों के वफादार थे, न देशद्रोही। पूँजीपति वर्ग को कांग्रेस की ताकत और विभिन्न वर्गों के साथ उसके संबंधों का उसे पूरा एहसास था, इसलिए शंकाओं के बावजूद वे कांग्रेस के कार्यक्रम के अनेक पक्षों से सहमत थे।

संदर्भ

1. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885-1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया: ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी
2. सुमित सरकार, 1985, ए क्रेटिक ऑफ कॉलोनियल इंडिया
3. बिपिन चन्द्र व अन्य, 1995, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
4. सी. माकोर्वित्ज, 1985, इंडियन बिजनेस एंड नेशनल पॉलिटिक्स, 1931-1939
5. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885-1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया: ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी
6. बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर: लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919-1939
7. मारिया मिश्र, 1999, बिजनेस, रेस एंड पॉलिटिक्स इन ब्रिटिश इंडिया, सी. 1850-1960
8. क्लाउड माकोर्वित्ज, 1985, इंडियन बिजनेस एंड नेशनल पॉलिटिक्स, 1931-1939